परीक्षा परिणामों में व्याप्त पूर्वाग्रह

ऋषभ कुमार मिश्र

विद्यालयी शिक्षा के आदर्श रूप में एक ऐसे विद्यालय की कल्पना हैं जहां 'शिक्षा' के द्वारा एक सचेत नागरिक को 'तैयार' किया जाता है। 'तैयारी' की इस मान्यता का प्रभाव इतना व्यापक हो चुका है कि व्यक्ति, प्ले स्कूल से प्रारंभ करके 'नौकरी' के पूर्व तक 'विद्यार्थी' की पहचान के साथ अपनी उम्र का लगभग एक चौथाई हिस्सा गुजार देता है। कहने को तो इस दौरान वह 'ज्ञान' की खोज में लगा रहता है लेकिन वास्तविकता यह है कि वह जीविका, सामाजिक पहचान, सामाजिक स्वीकृति के लिए खुद को तैयार करता है। जानना, सीखना और सर्जन जैसी क्रियाएं स्वयं साध्य होने के बदले इन लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन बन चुकी हैं। इनका साध्य वह प्रमाणपत्र है जो तथाकथित वस्तुनिष्ठ, विश्वसनीय और वैध परीक्षा को पास करने के बाद प्राप्त होता है। इस तरह से औपचारिक शिक्षा एक ऐसी फैक्ट्री बन जाती है जो चयन, छंटाई और सफलता की मुहर द्वारा अंतिम उत्पाद को 'सामाजिक प्राणी' के रूप में समाज को वापस सौंपता है। यह छंटाई आपकी विशिष्ट योग्यता और क्षमता को उभारने के बजाए सफलता और असफलता का ठप्पा लगाती है। इस संदर्भ में विचारणीय है कि यह किसे सफल घोषित कर रही है और किसे असफल घोषित कर रही है? इसे बोर्ड परीक्षा परिणामों के सापेक्ष समझने की कोशिश करते हैं।

हर वर्ष मई-जून माह में दसवीं और बारहवीं की बोर्ड परीक्षाओं के परिणाम आते हैं। इन परिणामों की घोषणा के साथ तरह-तरह के आंकड़े और व्याख्याएं आने लगती हैं। ये व्याख्याएं न केवल विद्यार्थियों की सफलता और असफलता के बारे बताती हैं बल्कि विद्यालयी व्यवस्था के विषय में कुछ धारणाएं पैदा करती हैं। ये व्याख्याएं निजी बनाम सरकारी, लड़का बनाम लड़की, शहरी बनाम ग्रामीण के वर्ग विभाजन में परीक्षा परिणाम को प्रस्तुत करती हैं। विद्यार्थियों के जेंडर, विद्यालय, परिवार और राज्य व क्षेत्र आदि के सापेक्ष यह वर्गीकरण एक वर्ग को दूसरे के प्रतियोगी के रूप में खड़ा कर देता है। इस तरह की प्रस्तुति में सामाजिक सच्चाई के कई पहलू छुप जाते हैं। केवल अपवादों और विरोधाभासों को प्रतिष्ठित किया जाता है।

वस्तुतः परीक्षा परिणामों में जेंडर, वर्ग, क्षेत्र और भाषा का अन्तराल अवसरों की असमानता का परिणाम है। इसे समझने के लिए 'अच्छे' परीक्षा परिणाम की व्यवस्थाजन्य शर्तो पर विचार करते हैं। हम परीक्षा परिणामों को सीधे तौर पर सीखे हुए ज्ञान का आकलन मान लेते हैं। वास्तविकता यह है कि परीक्षा में अच्छे अंक लाना एक सशर्त और यांत्रिक प्रक्रिया का परिणाम है। इसमें पढ़ाई के घण्टों की अधिकता, खेल और अन्य मनोरंजन गतिविधियों में न्यूनतम भागीदारी, समय सारिणी आदि के द्वारा कठोर अनुशासन का पालन, परीक्षात्मक युक्तियों जैसे-लेखन शैली, प्रश्नोत्तर का अभ्यास आदि की दक्षता का विकास शामिल है। इन शर्तों को पूरा करने का दायित्व विद्यार्थी, अभिभावक, शिक्षक और विद्यालय प्रशासन का होता है। विद्यार्थी से अपेक्षा होती है कि वह कक्षा में नियमित उपस्थित रहे, दिए गये कक्षा और गृह कार्यो को करे, स्मृति की धारण शक्ति को बढ़ाये। समय-समय पर होने वाली मासिक या त्रैमासिक परीक्षाओं में सत्रांत परीक्षा के लिए

अभ्यास करें। अध्यापक से अपेक्षा होती है कि वे अपने शिक्षण को परीक्षा केंद्रित बनाये। चूंकि जिज्ञासा और रोचकता आदि का परीक्षा से कोई सीधा संबंध नहीं है इसलिए वह अच्छे अंक के लिए परीक्षा का चक्रव्यूह भेदने की हर रणनीति का अभ्यास भी सुनिश्चित करवाए। पाठ्यपुस्तक के अलावा सहायक पुस्तकों आदि के द्वारा संभावित विषयों और प्रश्नों को रटवाये। अच्छे अंक पाने की अपरिभाषित कसौटियों जैसे-सुंदर और स्वच्छ लेखन, उद्धरणों के प्रयोग, कई रंग की स्याही से लिखने आदि के महत्व पर प्रकाश डाले। अभिभावकों से अपेक्षा होती है कि वे बच्चे की स्कूल आने-जाने में नियमितता की बाधाओं को समाप्त करें, घर पर संसाधन जैसे-समय, कोचिंग, मॉनीटरिंग आदि उपलब्ध कराएं और परीक्षा की तैयारी की समस्त लागतों का वहन करें। विद्यालय से अपेक्षा की जाती है कि उसकी समग्र अधिगम संस्कृति विद्यार्थियों को तनाव मुक्त रखते हुए परीक्षा का सामना करने के लिए तैयार करे। विद्यालय से अपेक्षा है कि वह अभिभावक, शिक्षक और विद्यार्थी के बीच परीक्षा को लेकर व्यूह रचना की निगरानी करता रहे। इनके बीच संतुलन को कायम रखे। अच्छे परीक्षा परिणाम की उक्त मशीनी शर्तो के सुचारू संचालन से ही परीक्षा में सफलता का परिष्कृत उत्पाद तैयार होता है। यदि कोई भी भागीदार उक्त अपेक्षाओं की भूमिका पर खरा नहीं उतरता तो विद्यार्थी के परीक्षा परिणाम पर असफलता का ठप्पा लगा दिया जाता है। असफलता का यह ठप्पा सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों को किनारे रखते हुए विद्यार्थी की संज्ञानात्मक अक्षमता को असफलता का कारण सिद्ध करता है। एक जैसे ज्ञान से युक्त उत्पादों को तैयार करने में यह व्यवस्था इतनी तल्लीन है कि वह भूल जाती है संज्ञानात्मक क्षमताएं भी एक न होकर अनेक हैं। हॉवर्ड गॉर्डनर की शब्दावली की मदद से कहूं तो गणितीय बुद्धि, भाषिक बुद्धि जैसे पक्षों की हम सराहना करते हैं लेकिन संगीत-बुद्धि, शरीरगतिकी बुद्धि आदि न तो प्रतिष्ठित है और न ही विद्यालय के ज्ञान-पैकेज का हिस्सा। इसके अलावा यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि सीखना, संस्कृति स्पंदित होता है। यदि शिक्षण और आकलन सीखने वाले के शैक्षिक संदर्भ को संज्ञान में नहीं लेते तो शिक्षार्थी के असफल होने की संभावना बढ़ जाती है। इन अंतरालों के कारण शिक्षा के द्वारा 'उत्पादों' के सर्जन के बजाय विसर्जन की दर अधिक हो जाती है। यह विसर्जन प्रच्छन्न रूप से हर विद्यालय और हर सामाजिक वर्ग की सच्चाई बन चुका है। अक्सर हम मानते हैं कि जिन बच्चों को सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण सीखने के लिए अपेक्षित संज्ञानात्मक क्षमता, संसाधन, सहयोग, अभिप्रेरणा और मार्गदर्शन मिल रहा है वहां विसर्जन की संभावना न्यूनतम होगी। वहां भी परीक्षा प्रणाली लगातार छंटाई और विसर्जन का कार्य कर रही है। उदाहरण के लिए सी.बी.एस.ई. और आई.सी.एस.ई. बोर्ड से संबंधित विद्यालय तथाकथित आदर्श विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था के समीप हैं। ये विद्यालय अधिकांशतः नगरीय केन्द्रों में स्थापित हैं। यदि वे किसी दूर-दराज के क्षेत्र में स्थापित हैं तो इनका संचालन निजी प्रबंधन के हाथ में हैं। इसी तरह के अनेक विद्यालय केन्द्र सरकार के कर्मचारियों के बच्चों के लिए हैं। जवाहर नवोदय विद्यालय भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं जो ग्रामीण क्षेत्र के प्रतिभाशाली बच्चों के लिए हैं। इन विद्यालयों से संबंधित अभिभावक विद्यालय की इच्छानुसार शुल्क चुकाने, संसाधन जुटाने, यहां तक कि वैकल्पिक और पूरक सुविधाओं के रूप में ट्यूशन आदि उपलब्ध करवाने में समर्थ हैं। परिवार में विद्यार्थियों को 'शिक्षित समाज' मिलता है। राज्य ने भी अध्यापकों और अन्य संसाधनों सहित इन विद्यालयों की निगरानी में कोई कोर कसर नहीं छोड़ रखी है। अब इन विद्यालयों में उत्तीर्ण विद्यार्थियों के प्रतिशत को संज्ञान में लीजिए। सी.बी.एस.ई. द्वारा आयोजित परीक्षा में 88 प्रतिशत विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए। इसी तरह आई.सी.एस.ई. द्वारा आयोजित परीक्षा में लगभग 90 प्रतिशत विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें से कोई न तो गरीब था, न पढ़ाई की दृष्टि से कमजोर और न ही कोई ऐसा जिसे घर में विद्यालयी शिक्षा के लिए आवश्यक सामाजिक और सांस्कृतिक पूंजी का अभाव हो। इस आदर्श स्थिति के बावजूद प्रथम दृष्टया 10-12 प्रतिशत विद्यार्थियों को शिक्षा व्यवस्था ने बाहर का रास्ता दिखा दिया। जो विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए हैं उनमें अगला संघर्ष उच्च शिक्षा के लिए अच्छे संस्थानों में प्रवेश के लिए होगा। अधिकांश महाविद्यालयों में प्रवेश बोर्ड परीक्षा के प्राप्तांकों के आधार पर दिए जाते हैं। हाल के कुछ वर्षों में श्रेष्ठ कहे जाने वाले संस्थानों के 'कट-ऑफ' का मुआयना कीजिए। ये लगातार बढ़ती जा रही है। हालात तो ये हैं कि 90 प्रतिशत से कम अंक पाने वाले विद्यार्थियों का प्रवेश किसी 'अच्छे' कहे जाने वाले कालेज में नहीं हो पाता है। कुल उत्तीर्ण विद्यार्थियों के 20 प्रतिशत विद्यार्थियों का प्रवेश ही इन संस्थानों में हो पाता है। सवाल यह है कि शेष विद्यार्थी कहां जाते हैं? इन विद्यार्थियों के संदर्भ में गरीबी या गुणवत्ताविहीन शिक्षा का तर्क

भी नहीं दिया जा सकता है। विद्यालयी शिक्षा की ढांचागत समस्याएं इन विद्यार्थियों को दोयम दर्जे पर खड़ा कर देती हैं। ढांचागत समस्या से अभिप्राय है कि हम केवल प्रवेश और उसके बाद परीक्षा के लिए चिंतित होते हैं। इन दो समय बिंदुओं के बीच विद्यार्थी को सीखने, स्वयं को जानने और खोजने के कैसे अवसर उपलब्ध हैं? उसे अपनी अभिक्षमताओं और रुचियों को जानने के लिए कैसे समर्थ बनाया जा रहा है? कैसे विज्ञान, गणित और अंग्रेजी के इतर विषयों को भी संभावनाओं के केन्द्र में रखा जाएगा? जैसे प्रश्न किसी भी भागीदार द्वारा नहीं उठाए जाते हैं।

यदि इस मध्यमवर्गीय विद्यालयी व्यवस्था के बाहर निकलकर उन सरकारी और निजी विद्यालयों पर ध्यान केन्द्रित करें जहां नगरीय गरीबों और गांव में रहने वाले किसानों के बच्चे जाते हैं तो बहुस्तरीय विद्यालयी व्यवस्था द्वारा किए जा रहे विसर्जन के कुछ और पक्ष सामने आते हैं। सरकार ऐसे विद्यालयों में अध्यापक, भवन, पुस्तकें और अन्य अधिगम संसाधन उपलब्ध कराने के दावे के साथ स्वयं को पाक-साफ घोषित कर देती है। शिक्षक अपनी नियमितता और पाठ्यक्रम को पूरा करने के प्रमाणों को प्रस्तुत कर अपनी कर्मठता सिद्ध करते हैं। अभिभावक निजी और महंगे विद्यालयों में भेज सकने की क्रयशक्ति के अभाव को अपनी लाचारी बताते हुए भाग्य भरोसे बैठ जाते हैं। इस व्यवस्था में पुनः ढांचागत पहुलओं को समझने की जरूरत है। विद्यार्थी को क्या सीखना है? इसका निर्धारण उसे केन्द्र में रखकर नहीं किया जाता बल्कि एक सार्वभौमिक पैमाने को लागू करके हम मान लेते हैं कि विद्यालय में विद्यार्थी एक अपेक्षित ज्ञान राशि को सीख लेगा। इस प्रक्रिया में दो सवाल छूट जाते हैं। प्रथम, विद्यालय के बाहर की दुनिया में विद्यार्थी किन ज्ञान, कुशलताओं और भाषा को ग्रहण कर रहा है? दूसरे, घर पर उसे विद्यालय में सफलता के लिए किस प्रकार के संसाधन, समय और पूरक सुविधाएं मिल रही हैं? विडंबना यह है कि इन परिस्थितियों को दरकिनार करते हुए परीक्षा परिणामों की शुचिता का संकेतक विद्यार्थियों की असफलता को बताया जाता है। इस तरह शिक्षा द्वारा विसर्जन को औचित्यपूर्ण ठहरा दिया जाता है। हमारे आस-पास असंगठित क्षेत्रों का अधिकांश कार्यबल जिसमें रिक्शे वाले, ठेलेवाले, ऑटो चालक, खोमचे वाले आदि आते हैं इसी शिक्षा व्यवस्था के द्वारा 'असफल' घोषित कर दिए गए उत्पाद हैं। हमारी बहुस्तरीय विद्यालयी व्यवस्था 'मेरिट' के आधार पर 'मक्खन' का चुनाव कर उसमें से 'घी' निकालने का यत्न करती है लेकिन विचारणीय है कि 'मेरिट' को कौन परिभाषित कर रहा है? किस लक्ष्य से परिभाषित कर रहा है? ये लक्ष्य किसके पक्ष में हैं?

ये लक्ष्य संसाधन संपन्न वर्ग के पक्ष में है। संसाधन संपन्नता परीक्षा में सफलता के माध्यम से शिक्षा के लाभों तक पहुंच सुनिश्चित कर रही है। लेख के आरंभ में परीक्षा-फ्रेम की चर्चा की गयी थी। संसाधन संपन्न वर्ग के फ्रेम के चारों आधार (विद्यार्थी, अभिभावक, शिक्षक और विद्यालय) परीक्षा के मानकों पर खरा उतरते हैं। यदि इनमें से कोई आधार कमजोर पड़ता है तो उक्त भागीदारों द्वारा उसकी क्षतिपूर्ती करने की व्यवस्था की जाती है। उदाहरण के लिए यदि अभिभावक घर पर बच्चे की मदद नहीं कर सकता तो ट्यूशन का इंतजाम कर देता है। विद्यालय बच्चे पर अधिक दबाव का मुकाबला करने के लिए काउंसलिंग आदि की व्यवस्था कर देता है। जबकि सरकारी स्कूल के विद्यार्थियों के संदर्भ में क्षतिपूर्ति का कोई उपाय नहीं होता। यदि बच्चे को घर के कामों में हाथ बंटाना है तो उसकी पढ़ाई के घण्टे कम होंगे, अभिभावक अपेक्षित संसाधन नहीं दे पायेंगे तो बच्चे को केवल विद्यालय के ऊपर निर्भर रहना पड़ेगा। ऐसी स्थितियों में विद्यार्थी के परीक्षा परिणाम अपेक्षानुरूप कैसे आएगें? अंततः परीक्षा परिणाम संसाधन संपन्न वर्ग के पक्ष में जाएंगे। क्यों न जाए? हमने जिस शिक्षा व्यवस्था को विकसित किया है वह शिक्षित, नगरीय, मध्यमवर्गीय और पुरुषप्रधान समूह की सामाजिक और सांस्कृतिक पूंजी से संचालित होती है। ये परिवार अपने बच्चों को साक्षरता के विस्तृत और बहुआयामी अनुभव उपलब्ध कराते हैं। चाहे लेखन शैली में नये शब्दों का प्रयोग हो या वाक्य विन्यास व लिखावट आदि में परिष्करण, विज्ञान या गणित की साक्षरता के लिए जागरूकता हो या सामान्य ज्ञान का अख़बार या अन्य प्रिंट माध्यमों से समृद्ध होना, ये सब संपन्न परिवारों के रोजमर्रा की जिंदगी का हिस्सा है। ऐसे विद्यार्थी जिनके विद्यालय और घर पर प्रिंट माध्यम के नाम पर केवल स्कूल की पाठ्यपुस्तक हैं, मार्गदर्शन के लिए केवल शिक्षक हैं और परीक्षोन्मुख तैयारी के लिए कोई अन्य सहयोग नहीं है वे स्वाभाविक रूप से निबंध, आलोचना, जीवनी, गुण-दोष, आदि के सवालों में भाषायी सीमा के कारण पीछे रह जाएगें। उनमें विज्ञान वर्ग के विषयों के प्रति आकर्षण होगा

लेकिन उन्हें पढ़ाने और उनकी परीक्षा की पद्धति उनके अनुभवों को संज्ञान में नहीं लेगी। वे अंग्रेजी को 'हिन्दी' में पढ़ेगें। अन्ततः उनकी यह संसाधन हीनता परीक्षा परिणाम में परिलक्षित होगी और इस तरह के लक्षणों वाला पूरा समूह सफलता के पैमाने पर पीछे रह जाएगा। इसके अलावा संसाधन-संपन्नता एक अन्य प्रच्छन्न लाभ सुनिश्चित करती है। अमूमन मनोविज्ञान का हवाला देते हुए परीक्षा के सवालों को हम वस्तुनिष्ठ तरीके से ज्ञान की परीक्षा लेने का माध्यम मान लेते हैं। इन प्रश्नों में ऐसे संतुलन की परिकल्पना करते हैं जहां कठिनाई स्तर औसत होती है और स्मृति, बोध और अनुप्रयोग आदि प्रकार के प्रश्नों में संतुलन होता है। यह व्याख्या अधूरी है। सवाल पूछा जाना चाहिए कि परीक्षा के सवाल किस समाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक वर्ग के लोगों ने बनाए हैं? इसका कारण यह है कि प्राश्निक ही तय करता है कि प्रश्नों का उत्तर क्या होगा। ऐसी दशा में वे अपने वैयक्तिक संदर्भ और अधिमान के आधार पर तय करते हैं कि किस सवाल को परीक्षा में पूछा जाए और उसका अपेक्षित उत्तर क्या होगा। ये सवाल न चाहते हुए भी उन विद्यार्थियों के पक्ष में होते हैं जो प्राश्निक की पृष्ठभूमि से संबंधित होते हैं।

स्पष्ट है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था ने परीक्षा प्रणाली द्वारा श्रेष्ठ और गैर श्रेष्ठ में भेदभाव करने की प्रवृत्ति को छोड़ा नहीं है। यह प्रवृत्ति इतनी गहरी है कि आकलन के तरीकों में सुधार करके विद्यार्थियों की क्षमताओं में विविधता मापने के बजाय हम वहां भी विभेद पैदा कर देते हैं। तभी तो जिस प्रकार की परीक्षा प्रणाली से हम गुजरते हैं वह तो केवल यह बताती है कि एक चुनी हुयी ज्ञान राशि में से विद्यार्थी ने कितना ग्रहण किया। इस ग्रहण किए ज्ञान को अभिरुचि, अभिवृत्ति और अभिक्षमता जैसे मनोवैज्ञानिक गुणों का समानार्थी मान लेना और इसके आधार पर विद्यार्थी को सामाजिक और वृत्तिक पहचान प्रदान करना हमारी शिक्षा व्यवस्था का स्थायी संकट है। इसे सीखने के नकारात्मक पुनर्बलन के रूप में प्रयुक्त करना एक आम चलन है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि पढाई, परीक्षा की तैयारी के समतुल्य हो गयी है। इस समतुल्यता को शिक्षक, अभिभावक और विद्यार्थी सभी ने स्वीकार लिया है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी की पहचान दो अंकों में सिमट के रह जाती है। तीन अंक तक पहुंचना तो ब्रह्म प्राप्ति के समान है! ऐसी प्रवृत्तियों के बदले हमें विद्यार्थी रूपी व्यक्ति का आकलन उसकी विशिष्टताओं और सीमाओं के सापेक्ष करना चाहिए। हमें इस भ्रम से मुक्त होना होगा कि अकादमिक उपाधियां और भावी भविष्य एक दूसरे के पूरक है। हमें आश्वस्त होना चाहिए कि हर विद्यार्थी में कुछ न कुछ विशिष्ट योग्यताएं और क्षमताएं अवश्य हैं। यह संभव है कि ये क्षमताएं लोकप्रिय व्यवसायों जैसे- डॉक्टर, इंजीनियर आदि के लिए अपेक्षित योग्यताओं के अनुरूप न हों लेकिन यह भी असंभव है कि कोई विद्यार्थी 'असफल' हो। न तो श्रेष्ठता का कोई एक सार्वभौमिक और सर्वसिद्ध पैमाना है और न ही सभी 'श्रेष्ठता' के एक सांचे में ढाले जा सकते हैं। हम सबकी अपनी-अपनी दुनिया है और अरमान हैं। हमें इसे जीने और करने का मौका मिलना चाहिए। शिक्षा इस लक्ष्य में हमारी ताकत बने न कि परीक्षा के बहाने ऐसा रोड़ा जो 'पूर्णांक' की दौड़ में सीखने के आनंद को गौण सिद्ध कर दे। ◆

लेखक परिचय : सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

संपर्क : 7057392903; rishabhrkm@gmail.com